
इकाई 27 पूंजीपति वर्ग*

संरचना

- 27.1 प्रस्तावना
- 27.2 पूंजीपतियों और कांग्रेस के बीच के रिश्ते के बारे में बहस
- 27.3 भारत में पूंजीपति वर्ग का उदय और विकास
- 27.4 आरंभिक दौर के राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रति पूंजीपतियों का रवैया
- 27.5 आरंभिक राष्ट्रवादियों की विचारधारा
- 27.6 जन राष्ट्रवाद और पूंजीपति
 - 27.6.1 रौलट सत्याग्रह से साइमन कमीशन तक
 - 27.6.2 सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन
 - 27.6.3 युद्धोत्तर काल
- 27.7 कांग्रेस के प्रति पूंजीपतियों के रवैये का मूल्यांकन
- 27.8 सारांश
- 27.9 अभ्यास

27.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन और भारतीय पूंजीपति वर्ग के बीच के रिश्तों पर विचार करेंगे। काफी दिनों तक इतिहासकारों में इस मुद्दे पर गर्मागर्म बहसें होती रही हैं। इस इकाई में हम पहले इस बहस से आपको परिचित कराएंगे, उसके बाद शुरू से पूंजीपति वर्ग और राष्ट्रवादी आंदोलन के आपसी रुख की विभिन्न विशेषताओं का विश्लेषण करेंगे। इस बात को समझना जरूरी है कि विराट और महत्वाकांक्षी राष्ट्रवादी आंदोलन तथा एक पंख फैला रहे वर्ग, जो अपने अस्तित्व और विकास के लिए औपनिवेशिक संपर्कों पर आंशिक रूप से निर्भर था, के आपसी रिश्ते अनेक असंगतियों से भरे होंगे और उन्हें किसी एक ही दिशा में चलने वाली अखंड कहानी में नहीं बांधा जा सकता।

27.2 पूंजीपतियों और कांग्रेस के बीच के रिश्ते के बारे में बहस

भारत के इतिहासकारों में राष्ट्रीय आंदोलन, खासकर कांग्रेस के प्रतिनिधित्व वाली धारा और पूंजीपति वर्ग के बीच रिश्ते को लेकर गर्मागर्म बहसें चलती रही हैं। अक्सर इसमें दोनों तरफ तेवर इतना तीखा रहा है कि साझा जमीन खोजना मुश्किल है। आम तौर पर मार्क्सवादी इतिहासकारों ने कांग्रेस और पूंजीपतियों के बीच संबंध के प्रति बेहद आलोचनात्मक रवैया अपनाया है। भारत में मार्क्सवादी इतिहास लेखन के जनक एम एन राय का मानना था कि कांग्रेस बुनियादी तौर पर बुर्जुआ संगठन था और 1920 दशक के पूर्वार्ध के बढ़ते जन आंदोलनों के फलस्वरूप प्रगतिशील न रहकर प्रतिक्रियावादी हो गया और साम्राज्यवाद का सहयोगी बन बैठा। एक अन्य महत्वपूर्ण मार्क्सवादी सिद्धांतकार आर पी दत्त भारतीय पूंजीपति वर्ग को (जिसमें वे कांग्रेस के नेतृत्व को भी शामिल करते हैं) मूल रूप से दोहरे चरित्र वाला राष्ट्रीय पूंजीपति मानते हैं। अपनी किताब, *इंडिया टुडे*, में उन्होंने बताया है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग का साम्राज्यवाद से सचमुच का अंतर्विरोध था और वह विदेशी माल

और पूँजी के हमले का प्रतिरोध करता था लेकिन जन उभार का सामना होते ही साम्राज्यवाद के साथ खड़ा हो जाता था। उन्होंने कांग्रेस के भीतर बुर्जुआ हितों को चिन्हित किया।

मार्क्सवादी चिंतकों के एक अन्य समूह, मसलन सुनीति कुमार घोष का कहना है कि 'भारतीय पूँजीपति वर्ग में दो श्रेणियाँ शामिल रही हैं और आज भी शामिल हैं: बड़ा पूँजीपति जो दलाल है तथा दूसरा छोटा और मध्यम पूँजीपति जो राष्ट्रवादी है' (एस के घोष 1988: 2445)। घोष महोदय का कहना है कि भारतीय बड़ा पूँजीपति वर्ग शुरू से ही भारत में साम्राज्यवाद का सहयोगी रहा है। अमिय कुमार बागची के अनुसार सामंतवाद का खात्मा और पूँजीवादी संबंधों की स्थापना भारत में न तो ब्रिटिश पूँजीपतियों न ही भारतीय पूँजीपतियों की कार्यसूची का हिस्सा था। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने अधिकतर ऐसी प्रतिक्रियावादी विचारधारा की वकालत की जो लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की अवमानना करती थी। (ए के बागची 1991)

जी के लिटन का कहना है कि भारतीय पूँजीपति वर्ग पहले दलाल था लेकिन 1920 दशक के बाद से इसका चरित्र राष्ट्रवादी हो गया। बहरहाल राष्ट्रवाद के ज्वार के दौरान, मसलन नागरिक अवज्ञा आंदोलन के दौरान, बांबे के बड़े पूँजीपति 'राष्ट्रवादी ताकतों के पक्ष में रहने की बजाए औपनिवेशिक शासन के पक्ष में खड़े थे'। [जी के लिटन 1983: 33]। लिटन के अनुसार पूँजीपतियों और कांग्रेस के प्रभावी हिस्सों की रणनीति अल्पकालीन संघर्ष और दीर्घकालीन समझौता थी। औद्योगिक मंदी, बहिष्कार और हिंसा का दबाव उद्योगपतियों के सिर पर बना रहता था और इसके चलते वे 'कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रवादी आंदोलन तथा औपनिवेशिक शासन के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाने के लिए मजबूर हो गए'। भारतीय पूँजीपति वर्ग हमेशा राष्ट्रवाद के घेरे में ही नहीं बंधा रहा बल्कि अक्सर कांग्रेस के पीठ पीछे औपनिवेशिक शासन के साथ अलग समझौते करने की कोशिश भी करता था। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने राष्ट्रवादियों और औपनिवेशिक शासकों दोनों का साथ देने की कोशिश में दोहरी भूमिका निभाई।

कपिल कुमार जोर देकर कहते हैं कि कांग्रेस की नीतियों को निर्धारित करने में पूँजीपतियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनका तर्क है कि पूँजीपति वर्ग ने किसान आंदोलनों को नियंत्रित करने, कांग्रेस के भीतर दक्षिणपंथ को समर्थन देने, निजी आधार पर अलग अलग कांग्रेसी नेताओं को पैसा देने, विशाल भूखंड खरीदने, और किसान सभा पर प्रतिबंध लगाने के लिए कांग्रेस पर दबाव डालने की रणनीति पर सचेत रूप से अमल किया (कपिल कुमार 1991)।

दूसरी ओर इतिहासकारों का एक महत्वपूर्ण समूह, जिसमें बिपन चंद्र, आदित्य मुखर्जी और भगवान जोश प्रमुख हैं, मजबूती से यह दावा करता है कि भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद विरोधी था, 1920 दशक तक सचेतन समूह के रूप में विकसित हो चुका था और खासकर 1920 दशक के बाद से राष्ट्रवादी खेमे में शरीक हो चुका था। उनका दावा है कि भारतीय पूँजीपति वर्ग और उपनिवेशवाद के बीच असमाधेय और शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध था। इसलिए उनके बीच किसी दीर्घकालीन समझौते की कोई संभावना नहीं थी। बात यह है कि आर्थिक कारकों के चलते भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का विरोध करता था क्योंकि साम्राज्यवाद उसके दीर्घकालीन विकास को बाधित करता था। अगुआ पूँजीपतियों ने इस स्थिति को स्पष्ट रूप से समझ लिया और औपनिवेशिक सरकार के विरुद्ध कांग्रेस का पक्ष लिया।

बिपन चंद्र का कहना है कि भारतीय पूँजीपति वर्ग ने कभी दलाल की भूमिका नहीं निभाई, न ही किसी भी समय वह ब्रिटिश पूँजी के अधीन रहा। हालांकि भारतीय अर्थतंत्र

संरचनात्मक तौर पर साम्राज्यवाद के अधीन तो था लेकिन भारतीय पूंजीपति वर्ग एक स्वतंत्र वर्ग था जिसने साम्राज्यवाद के विरुद्ध और स्वतंत्र पूंजीवादी विकास के लिए संघर्ष किया। बहरहाल कभी कभी इसे साम्राज्यवाद से समझौता भी करना पड़ा क्योंकि आखिरकार यह औपनिवेशिक और अल्पविकसित अर्थतंत्र का पूंजीपति वर्ग था। भारतीय पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक कमजोरी और औपनिवेशिक सरकार पर इसकी आंशिक निर्भरता का कारण इसकी आर्थिक कमजोरी था। साम्राज्यवाद के साथ इसका दोहरा संबंध था: 'दीर्घकालीन शत्रुता और अल्पकालीन समायोजन तथा निर्भरता'। बहरहाल उन्होंने माना कि 'पूंजीपतियों की भारी बहुसंख्या को... सक्रिय साम्राज्यवाद विरोधी नहीं कहा जा सकता' (बिपन चंद्र 1979)।

आदित्य मुखर्जी जोरदार तरीके से इस बात को कहते हैं कि भारतीय पूंजीपति वर्ग विशेष रूप से 1920 दशक के बाद से राष्ट्रवादी खेमे में बना रहा। इसे यकीन था कि केवल कोई राष्ट्रीय सरकार ही भारत में आर्थिक विकास कर सकती है। भारतीय पूंजीपतियों की वैचारिक और राजनीतिक स्थिति उनकी वास्तविक कमजोर आर्थिक स्थिति के मुकाबले काफी आगे बढ़ी हुई थी। मुखर्जी के मुताबिक भारतीय पूंजीपति वर्ग औपनिवेशिक शासन और ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संघर्ष के क्रम में 'परिपक्व आत्म-चेतस वर्ग' में विकसित हुआ। इसने अपने आंतरिक अंतर्विरोधों पर भी काबू पाया ताकि औपनिवेशिक भारत में पहला वर्ग सचेत समूह बन सके। भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद का पक्ष लिए बिना वामपंथी प्रवृत्तियों को रोकने की सफल रणनीति अपनाने की कोशिश की। यह हमेशा राष्ट्रवादी शक्तियों के पक्ष में बना रहा हालांकि समाजवादियों और कम्यूनिस्टों का प्रभाव रोकने के लिए इसने दक्षिणपंथी राष्ट्रवादियों को प्रोत्साहित किया और उन्हें सबल बनाया। भारतीय पूंजीपति वर्ग इस मामले में सफल रहा कि उसने अपने वर्ग हितों को जरूरी राष्ट्रीय हितों के बतौर पेश किया। ऐसा हो सका क्योंकि औपनिवेशिक स्थिति में 'एक हद तक राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग और शेष समाज के बीच हितों की वास्तविक एकता थी क्योंकि उन सबका उत्पीड़न साम्राज्यवाद कर रहा था' (मुखर्जी और मुखर्जी 1988)। हालांकि पूंजीपतियों और राष्ट्रवादियों के बीच कुछ मतभेद थे फिर भी ये मतभेद आखिरकार 'एक सुलह समझौते वाले कार्यक्रम के इर्द गिर्द सुलझ गए क्योंकि प्रत्येक समूह ने... अपनी मूल मांग में काफी बदलाव किए'। इसके अलावे नेहरू और के टी शाह जैसे वामपंथी राष्ट्रवादियों तथा पूंजीपतियों के बीच योजना तथा इसमें राज्य की भूमिका के सवाल पर कोई बुनियादी मतभेद नहीं था। दोनों समूहों में कुछ बुनियादी साझा विचार थे जिसमें सबसे महत्वपूर्ण था 'औपनिवेशिक राज्य की संरचना को उखाड़ फेंकना' और 'इसकी जगह पर एक स्वतंत्र देशी पूंजीवादी राज्य की संरचना की स्थापना'। मुखर्जी ने बांबे प्लान (1944) को राष्ट्रीय सरकार, आर्थिक योजना और स्वतंत्र आर्थिक विकास की भारतीय पूंजीपतियों की इच्छा का साकार रूप माना है। हालांकि इन दोनों के बीच इन लक्ष्यों को हासिल करने के लिए अपनाई जाने वाली पद्धति तथा राज्य के हस्तक्षेप की सीमा को लेकर कुछ मतभेद थे लेकिन दोनों समूहों ने अपनी बुनियादी मान्यताओं में उल्लेखनीय एकता प्रदर्शित की।

भगवान जोश का कहना है कि कांग्रेस को सरल ढंग से बुर्जुआ पार्टी के रूप में नहीं देखना चाहिए बल्कि उसे समस्त भारतीय जनता के साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे के बतौर समझना चाहिए, ऐसी सर्व-वर्गीय पार्टी के बतौर मानना चाहिए जो किसी समूह विशेष की इच्छा से निर्देशित नहीं हो रही थी या भारतीय समाज के किसी एक हिस्से के हितों की सेवा नहीं कर रही थी। ऐसी कोई पूर्व निर्धारित दिशा नहीं थी जिसकी ओर राष्ट्रीय आंदोलन चला। इसकी दिशा इस बात से तय होती थी कि आपस में टकराते विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि अपना वर्चस्व किस तरह प्राप्त करते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन की अग्रगति इस बात पर निर्भर नहीं थी कि पूंजीपति उसमें भाग लेते हैं या नहीं। अलग अलग मौकों पर कांग्रेस को व्यवसायियों,

व्यापारियों, उद्यमियों और उद्योगपतियों के कुछ हिस्सों का समर्थन मिला जबकि कई हिस्सों ने इसका विरोध किया। विदेशी शासन के विरुद्ध कांग्रेस ने संवैधानिक और गैर-संवैधानिक दोनों तरीकों से संघर्ष किया। बहरहाल पूँजीपति वर्ग ने संघर्ष के केवल संवैधानिक रूपों का समर्थन किया तथा गैर-संवैधानिक रूपों से दूरी बरती या उनका विरोध भी किया (भगवान जोश 1991)।

क्लाड मर्कोविट्ज इस विचार का विरोध करते हैं कि भारतीय पूँजीपति एक सचेतन वर्ग के बतौर विकसित हुए। उनका कहना है कि 1930 दशक के दौरान भी पूँजीपति वर्ग 'सुपरिभाषित लक्ष्यों को हासिल करने के लिए किसी दीर्घकालीन नीति पर अमल करने और एकताबद्ध निकाय के रूप में काम करने में सक्षम तथा बहुत सुस्पष्ट पूँजीपति वर्ग' के रूप में विकसित नहीं हो पाया था। कुछ पूँजीपतियों में साझा हितों की चेतना के बावजूद उद्देश्य को लेकर कोई दीर्घकालीन एकता नहीं थी। इसके अलावे जब कभी पूँजीपतियों ने कांग्रेस का समर्थन किया तो उसका मुख्य कारण कांग्रेस द्वारा प्रचारित आर्थिक राष्ट्रवाद नहीं था। गांधी और पूँजीपतियों के बीच संपर्क का अधिक महत्वपूर्ण कारक 'हिंदू बनियों और हिंदू राजनेता के बीच संपर्क था, न कि उदीयमान पूँजीपति वर्ग और राष्ट्रवादी नेता के बीच संपर्क था'। इस रिश्ते में धार्मिक तत्व बहुत अधिक था तथा इसकी प्रकृति पारंपरिक थी। टाटा जैसे पूँजीपतियों के सबसे आधुनिक तबके असल में 'सबसे कम राष्ट्रवाद-समर्थक' थे (सी मर्कोविट्ज 1985: 182,189)।

द्विजेंद्र त्रिपाठी ने राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति पूँजीपतियों के रुख की रंग बिरंगी तस्वीर प्रस्तुत की है। शुरुआती दौर में गांधीवादी जन आंदोलनों के उभार से पहले भारतीय पूँजीपति वर्ग कमजोर था और ब्रिटिश व्यापार के साथ हितों का टकराव नहीं महसूस करता था क्योंकि वह भारत में उद्योगों की स्थापना के लिए ब्रिटिश तकनीक, और प्रौद्योगिकी तथा प्रबंधन के लिए ब्रिटिश विशेषज्ञों पर निर्भर था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत में जब पूँजीपतियों की ताकत बढ़ी तब ब्रिटिश पूँजी के साथ टकराव अपरिहार्य हो गया। बहरहाल पूँजीपति वर्ग ने ब्रिटिश व्यवसायियों के साथ अपने संपर्क तोड़े नहीं। दूसरी ओर वह कांग्रेस और गांधी के नेतृत्व में तेज हो रहे राष्ट्रवादी आंदोलन को भी नाराज नहीं कर सकता था। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए उसने चार सूत्री रणनीति अपनाई: '1) कांग्रेस की टकराववादी राजनीति से दूर रहना, 2) कांग्रेस की रचनात्मक गतिविधि का समर्थन करना ताकि उसकी कृतज्ञता पर हक जताया जा सके, 3) कांग्रेस के भीतर नीति निर्माण को प्रभावित करना और 4) विधायी तथा अन्य ऐसे ही मंचों पर राष्ट्रवादी शक्तियों के साथ मिलकर काम करना' (एस पी ठाकुर 1989: 1437-8)।

मनाली चक्रवर्ती के अनुसार भारतीय बड़े व्यवसायी वर्ग ने दोनों विश्व युद्धों के बीच के दौर में राष्ट्रवादी आर्थिक नीतियों की वकालत की। बहरहाल केवल भारतीय व्यवसायी ही नहीं, बल्कि भारत में स्थित ब्रिटिश व्यवसायी वर्ग भी भारतीय उद्योगों के लिए संरक्षणवादी उपाय चाहता था। बहरहाल 1930 दशक से ही आर्थिक राष्ट्रवाद की ओर अपने झुकाव के बावजूद पूँजीपति वर्ग राष्ट्रवादी भावनाओं के साथ किसी जुड़ाव से निर्देशित होने की बनिस्बत मूलतः अपने आर्थिक हितों से निर्देशित हो रहा था (एम चक्रवर्ती 2009: 1031)।

27.3 भारत में पूँजीपति वर्ग का उदय और विकास

सबसे शुरुआती भारतीय उद्योगपतियों का विकास उन व्यापारियों से हुआ जो ब्रिटिश व्यवसायियों के लिए दलाली और सहयोग करते थे। इसी कारण बड़े भारतीय व्यवसायियों और ब्रिटिश पूँजीपतियों के बीच शुरुआती दौर में बहुत सौहार्दपूर्ण संबंध था। इस दौर में ब्रिटिश पूँजीपतियों को भारत में उद्योगों की स्थापना का आदर्श माना जाता था। बहरहाल

उन्नीसवीं सदी का अंत आते आते भारतीय पूंजीपतियों ने अपनी स्वतंत्रता का इजहार करना शुरू कर दिया और अपने खुद के संगठन बनाए। उदाहरण के लिए 1887 में बंगाल चैंबर्स आफ कामर्स और 1907 में इंडियन मर्चेन्ट्स चैंबर आफ बांबे की स्थापना हुई।

उन्नीसवीं सदी के मध्य से भारतीय उद्योगों में लगातार वृद्धि दिखाई पड़ी। बीसवीं सदी के शुरू में सूती वस्त्र उद्योग में भारतीय पूंजी की प्रधानता स्थापित हो गई। सूती मिलों की वृद्धि 1890 दशक के मध्य तक जारी रही। इस वृद्धि को ढेर सारी घटनाओं— जैसे प्लेग, मुद्रा का उतार चढ़ाव, अकाल और सांप्रदायिक दंगे— ने बाधित किया। अंग्रेजी राज के फायदों में विश्वास डगमगाने लगा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद से भारतीय पूंजीपतियों ने अनेक क्षेत्रों में घुसपैठ की। आयात विकल्पीकरण, घरेलू बाजार का विस्तार, आंतरिक व्यापार में वृद्धि और सूदखोरी तथा जमीन में लगी हुई पूंजी के औद्योगिक निवेश की प्रक्रियाओं के चलते भारतीय पूंजी का नियंत्रण बढ़ने लगा। 1944 के आते आते 62 प्रतिशत बड़ी औद्योगिक इकाइयों और 95 प्रतिशत छोटी औद्योगिक इकाइयों का नियंत्रण भारतीय पूंजी करने लगी। भारतीय उद्योगपतियों ने लगभग नए सिरे से चीनी, सीमेंट, कागज, लोहा और इस्पात जैसे उद्योगों की स्थापना की। जूट, खनन और प्लांटेशन जैसे उद्योग लंबे समय से विदेशी पूंजी के आधिपत्य में थे लेकिन इनमें भी भारतीय पूंजी बड़ी मात्रा में आई। सूती वस्त्र उद्योग में भारतीय निवेश इतनी तेजी से बढ़ा कि 1919 के इर्द गिर्द भारत के घरेलू उपभोग में ब्रिटिश सूती वस्त्र उद्योग का हिस्सा घटकर 40 प्रतिशत रह गया और भारत के सूती वस्त्र उत्पादकों ने चीन जैसे कुछ विदेशी बाजारों में भी घुसपैठ कर ली। एक अन्य बड़े उद्योग— जूट— में बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक ब्रिटिश पूंजी का लगभग संपूर्ण आधिपत्य था। बहरहाल 1914 से 1947 के बीच जूट उद्योग में कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कारणों के चलते भारतीय पूंजी तेज रफ्तार से बढ़ी। इस दौरान भारतीय पूंजीपति वर्ग का आकार भी काफी बढ़ा।

27.4 आरंभिक दौर के राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रति पूंजीपतियों का रवैया

उन्नीसवीं सदी में अधिकतर बड़े व्यापारियों और उद्योगपतियों का भाग्य औपनिवेशिक सरकार की अनुकंपा से चमका। उद्योगों के शुरुआती वर्षों में ब्रिटिश व्यवसाय के साथ घनिष्ठ सहयोग और ब्रिटिश तकनीकी कौशल की जरूरत के चलते औपनिवेशिक शासकों पर निर्भरता रही। भारतीय व्यवसायियों ने अपने व्यवसाय और उद्योग के सुचारु संचालन के लिए राजनीतिक रूप से खामोशी बरती और शासकों के पक्ष में रहे। भारतीय व्यवसायियों के ऊपरी हिस्सों ने तो अंग्रेजों के साथ घनिष्ठ सामाजिक संपर्क भी बनाए रखा। बहरहाल बांबे एसोसिएशन (1852 में गठित) के जरिए बांबे के कुछ व्यवसायियों ने कुछ हद तक राजनीतिक गतिविधि का अनुभव किया और कुछ राजनीतिक चेतना हासिल की। बाद में इल्बर्ट बिल संबंधी विवाद के दौरान जमशेदजी जीजाभाई के नेतृत्व में 28 अप्रैल 1883 को फिरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी और बदरुद्दीन तैयबजी जैसे कुछ राष्ट्रवादी नेताओं की ओर से आहूत एक बड़ी सभा में शामिल भी हुए। जनवरी 1885 में स्थापित बांबे प्रेसिडेंसी एसोसिएशन में बांबे के व्यवसायी और उद्यमी शामिल हुए। उनमें से कुछ इंडियन नेशनल कांग्रेस में भी शरीक हो गए जब दिसंबर 1885 में इसकी स्थापना हुई। कांग्रेस को कुछ व्यवसायियों ने थोड़ा चंदा भी दिया हालांकि समुदाय के बतौर भारतीय व्यवसायियों ने बहुत अधिक वित्तीय सहायता नहीं की। कुल मिलाकर 1850 से 1895 के बीच बांबे के मिल मालिकों की कुछ अपवादों को छोड़कर राजनीतिक भागीदारी नगण्य रही।

इस तरह राजनीतिक चेतना के प्रदर्शन और औपनिवेशिक सरकार द्वारा भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के मुकाबले ब्रिटिश उद्योग को वरीयता देने के अहसास के बावजूद भारतीय उद्योगपति इतने कमजोर और ब्रिटिश तकनीक पर इतना निर्भर थे कि स्वदेशी आंदोलन का समर्थन नहीं कर सके। दूसरी ओर स्वदेशी आंदोलन के नेताओं ने भारतीय उद्योगों का खुलकर समर्थन किया जिससे टाटा जैसे कई उद्योगपतियों को अपने उद्यमों के लिए पूँजी जुटाने में सहायता मिली। लेकिन बड़े पूँजीपति आम तौर पर स्वदेशी आंदोलन के विरुद्ध रहे। राष्ट्रवादी उद्देश्य का समर्थन करने की ऐसी अनिच्छा का स्रोत निजी स्वार्थ भी था। स्वदेशी आंदोलन के उभार के दिनों में सूती मिल मालिकों को भारतीय वस्त्रों की भारी मांग के कारण अकूत मुनाफा हुआ। लेकिन उन्होंने वस्त्रों की कीमत बढ़ा दी और राष्ट्रवादियों के अनुरोध के बावजूद उसे कम करने को तैयार नहीं हुए। स्वदेशी आंदोलन से भारतीय व्यवसायियों को और भी कई प्रकार से लाभ हुआ फिर भी आम तौर पर वे इसका खुलकर या सामूहिक रूप से समर्थन करने को राजी नहीं हुए। इसी वजह से 1878 और 1894 के शुल्क कानूनों, जो भारतीय उद्योगों के हितों के विरुद्ध थे और जिनका मिल मालिकों ने तीखा विरोध किया था, के बावजूद समूह के बतौर मिल मालिक इस दौर में आम तौर पर अंग्रेजी राज के प्रति निष्ठावान बने रहे। (देखें गीता पिरामल 1991 और बी आर नंदा 1991)

27.5 आरंभिक राष्ट्रवादियों की विचारधारा

आरंभिक राष्ट्रवादियों की आर्थिक विचारधारा देश में स्वतंत्र पूँजीवादी विकास की व्यवस्था का समर्थन करती थी। इस आरंभिक राष्ट्रवादी आर्थिक चिंतन को आर्थिक राष्ट्रवाद कहा गया और यह किसी भी विदेशी मुल्क पर निर्भरता के बिना राष्ट्रीय विकास को बढ़ावा देने वाली आर्थिक नीतियों को सूत्रबद्ध करना चाहता था। बहरहाल उनका लक्ष्य किसी एक ही वर्ग— पूँजीपतियों को लाभ पहुंचाना नहीं था। इसकी बजाए वे देश की गरीबी के इलाज के बतौर उद्योगीकरण की वकालत कर रहे थे। वे पूँजीवादी विकास चाहते थे क्योंकि उनके मुताबिक इससे आम तौर पर भारतीय जनता के कष्ट दूर होने वाले थे। इस तथ्य के बावजूद कि शुरुआती दौर में भारतीय उद्योगपति मूलतः सरकार समर्थक थे और राष्ट्रीय आंदोलन में उन्होंने कोई खास योगदान नहीं किया, आरंभिक राष्ट्रवादियों ने पूँजीवादी रास्ते का पक्ष लिया क्योंकि उनको विश्वास था कि पूँजीवादी उद्योगीकरण के जरिए ही देश आत्मनिर्भर और समृद्ध हो सकेगा।

राष्ट्रवादी नेताओं ने लोगों में उद्यमशीलता की भावना को जगाने के लिए काम किया, तकनीकी और औद्योगिक शिक्षा को बढ़ावा देने की जरूरत बताई, पूँजी के आंतरिक स्रोत जुटाने में मदद करने की कोशिश की, कहा कि अगर भारत को उन्नति करनी है तो उसे उद्योग की भूली विद्या को जगाना होगा जिसके अभाव से ही भारत में पिछड़ापन और गरीबी है और भारत के लोगों से केवल देश में निर्मित (स्वदेशी) वस्तुओं का प्रयोग करने की प्रार्थना की। उन्नीसवीं सदी का अंत आते आते अधिकांश राष्ट्रवादी नेता भारत को तेजी से उद्योगीकृत करने की मांग मजबूती से करने लगे। वे औपनिवेशिक शासकों की मुक्त व्यापार की नीतियों की घनघोर आलोचना करते और मांग करते थे कि भारत के उदीयमान आधुनिक उद्योगों के संरक्षण के लिए सीमा शुल्क में बढ़ोत्तरी की जाए। भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित करने, टिकाए रखने और मजबूत बनाने के लिए उन्होंने राज्य के हस्तक्षेप की वकालत की। कुछ राष्ट्रवादी नेताओं ने आम तौर पर जनता में और खास तौर पर उद्यमियों में औद्योगिकता के विचारों के प्रचार प्रसार के लिए औद्योगिक संगठन बनाए और औद्योगिक सम्मेलनों और प्रदर्शनियों का आयोजन किया। उदाहरण के लिए एम जी रानाडे ने 1890 में इंडस्ट्रियल एसोसिएशन आफ वेस्टर्न इंडिया की स्थापना की। राष्ट्रवादियों ने देखा कि औपनिवेशिक सरकार भारतीय उद्योगों को सहायता देने की कोशिश तो नहीं ही कर रही

है, उलटे ब्रिटिश उद्योगों के पक्ष में भारतीय उद्योगों की वृद्धि को रोक रही है तो उन्होंने ऐसे हरेक मामले में प्रत्येक उपलब्ध मंच पर सरकार की आलोचना की। (बिपन चंद्र 1966: 55-141, 739-759)।

27.6 जन राष्ट्रवाद और पूंजीपति

1918 के बाद गांधीवादी जन राष्ट्रवाद के दौर में हम पूंजीपतियों की जिनमें उद्योगपति, व्यापारी और व्यवसायी शामिल थे तरह तरह की प्रतिक्रियाएं देख सकते हैं। चूंकि मीडिया तथा सरकार और राष्ट्रवादियों का ज्यादा ध्यान आम तौर पर बड़े उद्योगपतियों की ओर था इसलिए जन राष्ट्रवाद के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का ज्यादा गहराई से विश्लेषण करना होगा। उद्योगपतियों और राष्ट्रवादियों की आपसी प्रतिक्रिया पर हम बुनियादी रूप से तीन चरणों में विचार करेंगे: रौलट सत्याग्रह से साइमन कमीशन तक, सविनय अवज्ञा आंदोलन से युद्ध के दौरान तक, और अंत में युद्ध के बाद।

27.6.1 रौलट सत्याग्रह से साइमन कमीशन तक

1918 में राष्ट्रवाद का जन भागीदारीपरक और आंदोलनात्मक दौर शुरू हुआ और इससे उद्योगपतियों तथा बड़े व्यावसायिक समूहों को परेशानी होने लगी। जिन कुछ पूंजीपतियों ने पहले आंदोलन का समर्थन किया था वे भी इससे हाथ खींचने लगे। इस दौर में बड़े व्यावसायिक घरानों ने कांग्रेस को कोई समर्थन नहीं दिया। असल में तो इनमें से कई लोगों ने आंदोलन का सक्रिय रूप से विरोध किया और इसके लिए उन्हें औपनिवेशिक सरकार से नाइटहुड समेत तमाम इनाम भी मिले। उद्योगपतियों की राजनीतिक निष्क्रियता की एक और वजह खासकर बांबे में कम्यूनिस्टों के नेतृत्व में चलने वाली मजदूरों की एक के बाद एक लंबी हड़तालें थीं। समाजवाद के भय और हिंसक मजदूर विद्रोह ने मिल मालिकों को सरकार के निकट ठेल दिया। सरकार ने भी मजदूरों के विरुद्ध संघर्ष में उद्योगपतियों का समर्थन किया और 1930 तक मजदूरों के आंदोलनों और यूनियनों को दबा दिया गया।

रौलट सत्याग्रह और असहयोग आंदोलन के दौरान बहुत कम पूंजीपतियों ने कांग्रेस को चंदा दिया और 1919 में रौलट बिल के विरुद्ध शपथपत्र पर किसी उद्योगपति ने दस्तखत नहीं किया। दूसरी ओर व्यापारी वर्ग की ओर से वास्तविक समर्थन छोटे व्यापारियों और दुकानदारों से मिला जिन्होंने आम तौर पर उत्साह के साथ आंदोलन का समर्थन किया, कांग्रेस द्वारा घोषित हड़तालों में भाग लिया और चंदा भी दिया। गांधी जानते थे कि विदेशी सामानों के बहिष्कार के उनके आवाहन से भारतीय उद्योगपतियों को लाभ होगा। इसलिए उन्होंने उनसे 'शुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण की जगह राष्ट्रीय दृष्टिकोण से व्यापार चलाने' को कहा। लेकिन उद्योगपतियों ने उनकी अपील पर कोई ध्यान नहीं दिया। मोतीलाल नेहरू ने बाद में 'देश की परेशानियों से मुनाफा कमाने' के लिए उनकी आलोचना की। यहां तक कि 1934 में भी कुछ कांग्रेसी नेता शिकायत कर रहे थे कि उद्योगपतियों ने चुनाव लड़ने के लिए कांग्रेस को पर्याप्त चंदा नहीं दिया और 'उच्च मध्य वर्ग तथा उद्योगपति भारत की आजादी के बोझ में अपना हिस्सा एकदम नहीं दे रहे हैं' (बी आर नंदा 1991: 184-5, 186)।

असहयोग आंदोलन के दौरान गांधी ने स्पष्ट कर दिया कि विदेशी सामानों के बहिष्कार के आवाहन को व्यापारी और व्यवसायी मानें या न मानें 'आजादी की ओर देश की यह यात्रा किसी कारणपेशान या व्यक्तियों के समूह पर निर्भर नहीं रह सकती। यह जनता का उद्गार है। जनता तेजी से छुटकारे की ओर बढ़ रही है और उन्हें आगे बढ़ना होगा चाहे संगठित पूंजी का समर्थन मिले या न मिले' (एस भट्टाचार्य 1976: 1828 पर उद्धृत)। हालांकि गांधी के विचार पूंजीवाद के पक्ष में नहीं थे लेकिन पूंजीपतियों और व्यापारियों ने अहिंसा में

गांधी के विश्वास को क्रांतिकारी बदलावों का विरोध माना और ट्रस्टीशिप के उनके सिद्धांत को निजी पूँजी और संपदा का समर्थक माना। कई पूँजीपतियों को यह चतुराई भरा बोध था कि राष्ट्रवादी आंदोलन को पूँजीवाद-विरोधी और क्रांतिकारी रूप लेने से रोकने की उम्मीद गांधी से ही की जा सकती है। बहरहाल तब भी रौलट ऐक्ट विरोधी आंदोलन के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन के समर्थन में बड़े उद्योगपति नहीं आए हालांकि छोटे व्यापारी इसका पूरी तरह से सक्रिय समर्थन कर रहे थे। बांबे के कपड़ा व्यापारियों समेत छोटे व्यवसायियों ने निजी नुकसान होने के बावजूद असहयोग आंदोलन का समर्थन किया जबकि उद्योगपतियों ने ऐसा नहीं किया। पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जमनादास द्वारकादास, कावसजी जहांगीर और सी सीतलवाड़ जैसे कुछ उद्योगपतियों ने आंदोलन का खुलकर विरोध किया। उन्होंने बांबे में एंटी-नान-कोआपरेशन सोसाइटी का निर्माण किया। कांग्रेस और गांधी ने दर्ज किया कि स्वदेशी की सफलता से भारतीय कपड़ा उत्पादकों की इजारेदारी हो गई है और इससे उनको लाभ हुआ है क्योंकि कई जगहों पर उन्होंने मनमानी कीमतें बढ़ा दी हैं। उद्योगपति अपने स्तर पर जन आंदोलन और बहिष्कार को लेकर शंकालु रहे क्योंकि इससे उनकी मिलों में मजदूरों से जुड़ी समस्याएं पैदा हो सकती थीं। उद्योगपतियों की मुनाफाखोरी, व्यापारियों की जमाखोरी कई औद्योगिक केंद्रों में मजदूरों में विक्षोभ देखा गया।

बहरहाल 1922 के बाद उद्योगों में छाई मंदी ने अधिकांश उद्योगपतियों को कांग्रेस का पक्ष लेने के लिए मजबूर कर दिया क्योंकि वे उद्योगों के लिए संरक्षण की मांग कर रहे थे। लेजिस्लेटिव सभा में मिल मालिकों और स्वराजियों ने मांग की कि सूती वस्त्र पर 3.5 प्रतिशत का उत्पाद शुल्क खत्म किया जाए। 1920 दशक के मध्य में उनकी रणनीति थी संविधानवादी राष्ट्रवादी नेताओं को विधायी निकायों में भारतीय उद्योग समर्थक राय रखने के लिए प्रेरित करने की कोशिश करना और व्यावसायिक हितों के पक्ष में कांग्रेस को बोलने के लिए राजी करना। इसी दौर में 1927 में भारतीय व्यवसायी समुदाय ने फिक्की (फेडरेशन आफ इंडियन चैंबर्स कामर्स ऐंड इंडस्ट्री) नामक अपने केंद्रीय संगठन की स्थापना की। (देखें एस भट्टाचार्य 1976)।

27.6.2 सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन

जब उद्योग में मंदी छा गई तो उद्योगपतियों ने सरकार से ऐसे मजबूत उपाय करने की मांग की जिनसे उनका घाटा कम हो। उद्योगपतियों की मांगों में शामिल था आयातित सूती वस्त्रों पर शुल्क में बढ़ोत्तरी, रुपए की कीमत में घटोत्तरी और भारतीय बाजार में ब्रिटिश सूती वस्त्र उद्योग के लिए कोई भी वरीयतामूलक व्यवहार पर पाबंदी। औपनिवेशिक सरकार ने इनमें से किसी भी मांग को मानने से इनकार कर दिया। कुछ और भी बातों ने भारतीय उद्योगपतियों में यह खौफ पैदा कर दिया कि औपनिवेशिक सरकार उनके हितों की परवाह नहीं करती। उदाहरण के लिए 1932 में संपन्न ओटावा सम्मेलन ने औपनिवेशिक बाजारों में ब्रिटिश उद्योगों को विशेषाधिकार दिए। ऐसी साम्राज्यी वरीयताओं के विरुद्ध विक्षोभ भारतीय पूँजीपतियों में बहुत अधिक था। इसी तरह भारतीय रुपए को ब्रिटिश पाउंड के साथ जोड़ने और रुपए तथा स्टर्लिंग का अनुपात 18 डी तय करने के औपनिवेशिक सरकार के फैसले से भारतीय उद्योगपतियों के मन में संदेह पैदा हुआ कि सरकार के इरादे सही नहीं हैं।

सरकार से मोहभंग के चलते उद्योगपतियों में कांग्रेस के प्रति झुकाव पैदा हुआ। कांग्रेस ने भी उनकी अधिकांश मांगों को अपनी सूची में शामिल करके सकारात्मक रुख का परिचय दिया। एक दूसरा कारण यह भी था कि उद्योगपतियों में व्यापारियों के नए समूह का प्रवेश हुआ था जो कांग्रेस के समर्थक रहे थे। इन सबका परिणाम यह निकला कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के शुरुआती चरण में पूँजीपतियों का समर्थन मिला। बहरहाल सरकार के साथ बातचीत की असफलता के बाद जब गांधी ने 1932 में आंदोलन फिर से शुरू किया तो

आंदोलन के लिए आम पूंजीपतियों का समर्थन नहीं मिला। कांग्रेस के भीतर वाम पक्ष के उदय और नेहरू के वाम झुकाव वाले भाषणों ने पूंजीपतियों को कांग्रेस से और दूर कर दिया। कांग्रेस समर्थक राजनीति में उनकी रुचि फिर से 1930 दशक के उत्तरार्ध में जागी जब कांग्रेस ने 1935 में गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के तहत काम करने का फैसला किया।

क्लाड मरकोविट्स के अनुसार 1930 के दशक में भारतीय पूंजीपतियों की राजनीतिक भागीदारी के तीन चरण रहे हैं: '1930-31 में सापेक्षिक एकता का चरण, 1932-1936 के दौरान स्पष्ट विभाजन का चरण और 1936-1939 के दौरान महत्तर नई एकता का चरण'। भारतीय व्यवसायी वर्ग ने गांधी द्वारा शुरू किए गए सविनय अवज्ञा आंदोलन का आरंभ में समर्थन किया ताकि अंग्रेज सरकार से रियायतें, खासकर नुकसानदेह मुद्रा नीति से संबद्ध रियायतें, हासिल की जा सकें। बहरहाल यह समर्थन कार्यकर्ताओं के जुझारूपन और व्यापक अशांति की आशंका से बाद में कमजोर पड़ गया। इसके भी कुछ समय बाद जब कांग्रेस ने जन आंदोलनात्मक राजनीति को रोक दिया और संवैधानिक राजनीति में भाग लेने का फैसला किया तो पूंजीपति वर्ग ने फिर कांग्रेस का समर्थन शुरू कर दिया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू होने से पहले भारतीय पूंजीपतियों ने गांधी को सरकार से खुले टकराव से बचने और उससे समझौते की बातचीत के लिए राजी करने की कोशिश की। बहरहाल गांधी कुछ और सोच रहे थे। उन्होंने पहले गोलमेज सम्मेलन में शामिल होने से इनकार कर दिया जिसका आयोजन 1930 में लंदन में संवैधानिक और राजनीतिक सुधारों पर बातचीत के लिए होना था। आंदोलन के आरंभिक चरण में मंदी से परेशान और सरकारी उपेक्षा से चिढ़े हुए व्यवसायी समूहों ने इस उम्मीद के साथ आंदोलन का समर्थन किया कि इससे औपनिवेशिक सरकार पर वित्तीय और मौद्रिक मामलों में रियायत देने का दबाव पड़ेगा। पूंजीपति वर्ग के अधिक बुद्धिमान हिस्से ने महसूस किया कि 'विदेशी हित के विरुद्ध संघर्ष कांग्रेस के वजन के बिना नहीं हो सकता और इसीलिए गांधीजी को छोड़कर नहीं जाया जा सकता है....।' इसके चलते सविनय अवज्ञा आंदोलन के शुरुआती चरण में पूंजीपतियों के संगठन फिक्की ने कांग्रेस की बुनियादी मांगों का समर्थन करते हुए कहा कि 'भारतीय व्यापारी समुदाय समेत देश भर को कोई भी ऐसा संविधान स्वीकार नहीं होगा जो महात्मा गांधी द्वारा संकेतित प्रशासनिक और आर्थिक सुधारों को लागू करने के लिए जवाबदेह भारतीय सरकार को पर्याप्त और प्रभावी शक्तियां प्रदान नहीं करेगा'। फिक्की ने कांग्रेस के साथ एकजुटता के बतौर गोलमेज सम्मेलन में पूंजीपतियों को भाग लेने से भी रोका और ठाकुरदास को केंद्रीय लेजिस्लेटिव असंबली की अपनी सीट से इस्तीफा देने के लिए भी प्रेरित किया गया। अन्य भारतीयों की तरह ही कई व्यवसायियों ने भी स्वाभाविक रूप से राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपनाया। इसी कारण जब टाटा तथा कुछ अन्य उद्योगपतियों ने सरकार समर्थक पूंजीपति संगठन बनाना चाहा तो पुरुषोत्तमदास ने कड़ी प्रतिक्रिया देते हुए कहा कि 'भारतीय वाणिज्य और उद्योग भारतीय राष्ट्रवाद के अभिन्न अंग हैं और भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति इनकी भावना खत्म हो जाए तो भारतीय वाणिज्य और भारतीय उद्योग महज शोषण बनकर रह जाएंगे'।

सविनय अवज्ञा के दूसरे चरण में पूंजीपति आपस में विभाजित थे। जब आंदोलन आगे बढ़ा और सामान्य जनता तक पहुंच गया और सरकार समझौते के लिए तैयार नहीं हो रही थी तो बड़े उद्योगपतियों में फूट पड़ गई। टाटा के नेतृत्व में एक गुट ने कांग्रेस का खुलकर विरोध किया और तत्कालीन परिस्थितियों में जितना संभव था उतना समस्त लाभ साम्राज्यी सरकार से लेना चाहा। अहमदाबाद के मिल मालिकों के नेतृत्व में दूसरे गुट ने कांग्रेस का पक्ष लिया और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के उसके आवाहन का फायदा उठाया ताकि 'बांबे और लंकाशायर दोनों की कीमत पर फुटकल सामानों के मामले में आंतरिक बाजार

में अपना हिस्सा बढ़ाया जाए'। यह गुट और लाला श्रीराम के नेतृत्व वाला गुट मजबूती से कांग्रेस के साथ उसकी कमजोरी के समय भी खड़े रहे। बिड़ला और ठाकुरदास के नेतृत्व में एक और गुट कांग्रेस और औपनिवेशिक सरकार के बीच मध्यस्थ की भूमिका में रहा। बिड़ला ने अंग्रेजी सरकार को यह महसूस कराना चाहा कि 'गांधीजी और उनके जैसे लोग केवल भारत के ही मित्र नहीं हैं, बल्कि ग्रेट ब्रिटेन के भी मित्र हैं तथा गांधीजी शांति और व्यवस्था के पक्ष में सबसे मजबूत ताकत हैं'।

तीसरे चरण में साम्राज्यी सरकार की कट्टर नीतियों, कांग्रेस के भीतर वाम पक्ष के मुखर उभार तथा कांग्रेस के नेतृत्व में जन आंदोलन में उतार के चलते भारतीय पूँजीपतियों ने एकताबद्ध होकर कांग्रेस के भीतर के उदारपंथी तबके का समर्थन किया। इसी कारण 'भारतीय पूँजीपतियों ने 1939 के इंडो-ब्रिटिश व्यापार समझौते को खारिज कर दिया जो बुनियादी रूप से भारतीय हितों के लिए नुकसानदेह नहीं था, जबकि प्रांतों कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने कठोर मजदूर-विरोधी रुख अपनाया जिससे व्यावसायिक हित संतुष्ट हुए'। असल में नए कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के सामने कठिन कार्यभार था: उन्हें पूँजी और श्रम दोनों के हितों को समायोजित करने की कोशिश करनी थी जिन्होंने चुनावों में उनका समर्थन किया था और दोनों को बराबर उम्मीद थी कि कांग्रेसी शासन से उनको लाभ होगा। मंत्रिमंडलों के सामने ऊपर और नीचे के अंतर्विरोधी दबावों में पिस जाने का खतरा था। कांग्रेस हाई कमान पर ट्रेड यूनियनों के मुकाबले पूँजीपतियों का अधिक प्रभाव था और उम्मीद थी कि वह मंत्रिमंडलों पर मजदूर विरोधी रुख अपनाने के लिए दबाव डालेगा; जबकि स्थानीय कांग्रेसी संगठन मजदूरों के सीधे दबाव में आ जाते थे इसलिए वे उनकी मांगों का समर्थन करने की वकालत करते थे। बीच का रास्ता निकालने में प्रांतीय सरकारों को काफी मशक्कत करनी पड़ी।

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की विभिन्न कार्यवाहियों, खासकर उनकी श्रमिक नीतियों ने पूँजीपतियों को आश्वस्त कर दिया कि कांग्रेस उनके हितों के विरुद्ध नहीं है और वर्ग सहयोग को बढ़ावा देना चाहती है। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने मजदूरों के लिए कुछ रियायतों की गुंजाइश रखते हुए भी मजदूरों के मामलों में सक्रिय रूप से भाग लेकर मजदूरों के जुझारूपन पर अंकुश लगाने की कोशिश की। मजदूरों के संघर्षों को विघटनकारी और टालने लायक समझा गया और मजदूरों और उनके नियोक्ताओं के बीच आपसी समायोजन की नीति प्रस्तुत की गई। कुल मिलाकर कांग्रेस की प्रांतीय सरकारों ने उद्योगपतियों के इस भय को दूर कर दिया कि कांग्रेस मजदूरों को नियंत्रण में नहीं रख सकती। कांग्रेस ने पूँजीपतियों के इस भय को भी शांत कर दिया कि वह अर्थतंत्र और उद्योग के विभिन्न सेक्टरों का राष्ट्रीकरण नहीं करना चाहती और इसकी जगह वह निजी उद्यमियों के साथ सहयोग की नीति पर अमल करेगी।

हालांकि कांग्रेस की प्रांतीय सरकारों को हमेशा भारतीय पूँजीपतियों के हितों को समायोजित करने में सफलता नहीं मिली और वे खुद तथा व्यवसायी वर्ग के विभिन्न हिस्सों के बीच टकराव नहीं टाल सके फिर भी प्रांतों में कांग्रेस की सरकारों के दो सालों को समग्रता से देखने पर लगता है कि कांग्रेस और व्यवसाय के बीच रिश्तों में कुछ हद तक स्थिरता आई। हालांकि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान कई व्यवसायी ब्रिटिश अधिकारियों के साथ घनिष्ठ सहयोग की नीति की ओर लौटे ताकि युद्ध के समय के ठेकों का लाभ लिया जा सके फिर भी समूचा व्यवसायी वर्ग युद्ध के दौरान कांग्रेस के साथ रहा। जब कांग्रेस पार्टी ने आखिरकार सत्ता संभाली तो व्यवसायियों ने खुद को हालात को कुछ हद तक प्रभावित करने की स्थिति में पाया।

द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने साम्राज्यवादी शासन की ओर से भारत को युद्ध में शरीक करने के एकतरफा फैसले के विरोध में इस्तीफा दे दिया। बहरहाल कांग्रेस ने सरकार के युद्ध प्रयासों में गंभीर अड़ंगा न डालने का निर्णय किया। उद्योगपतियों ने भी सरकार का साथ दिया तथा युद्ध के लिए जरूरी सामानों और सेवाओं की आपूर्ति जारी रखी। लेकिन उनमें से कुछ ने कांग्रेस के प्रति अपना समर्थन जाहिर करने में हिचक नहीं दिखाई। जैसे कि फिक्की के अध्यक्ष जी एल मेहता ने कहा: 'भारतीय वाणिज्यिक संगठनों को इस तथ्य के बारे में तनिक भी पछतावा नहीं है कि वे स्वाधीनता और सत्ता के हस्तांतरण संबंधी कांग्रेस की मांगों के साथ पूरी तरह से खड़े हैं।'

फिर भी जब भारत छोड़ो आंदोलन शुरू हुआ तो ठाकुरदास सहित कई उद्योगपतियों ने औपनिवेशिक सरकार के साथ स्पष्ट टकराव का खुलकर विरोध किया। लेकिन उनमें से कुछ ने बंदी कांग्रेसी नेताओं के साथ एकजुटता जाहिर करने के लिए अपने मजदूरों को हड़ताल करने की इजाजत दी। बहरहाल कुल मिलाकर पूंजीपतियों ने दोहरी नीति अपनाई जिसके तहत सरकार के युद्ध प्रयासों का समर्थन करके अधिकतम लाभ उठाया और साथ ही कुछ कांग्रेसी नेताओं से मेल मिलाप भी कायम रखा तथा कभी कभी कांग्रेस फंड में चंदा भी दिया। (सी मर्कोविट्स 1985: 179 |180; डी त्रिपाठी 1991: 109, 110, 106, 96, 97, 115; एम चक्रवर्ती 2009: 1012)।

बिपन चंद्र का कहना है कि भारतीय पूंजीपतियों के नेता इतने दूरदृष्टिसंपन्न थे कि उन्होंने 1930 दशक के मध्य में नेहरू की क्रांतिकारिता को दक्षता के साथ झेला और उन्हें विकास के लिबरल बुर्जुआ रास्ते पर चलने की प्रेरणा देने में सफलता पाई। यह उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि उन्होंने समाजवादियों को काबू करने के लिए कांग्रेस के दक्षिणपंथ का समर्थन किया जो स्वाधीनता के आगमन के नजदीक आने के साथ अधिकाधिक मजबूत होता गया। हालांकि बांबे में पूंजीपतियों के एक समूह ने नेहरू के क्रांतिकारी भाषणों पर गंभीर प्रतिक्रिया व्यक्त की लेकिन अधिकांश अन्य उद्योगपतियों ने सावधान प्रतिक्रिया दी। बिड़ला और अन्य लोगों ने नेहरू पर लगाम लगाने के लिए कांग्रेस के दक्षिणपंथ और गांधी पर भरोसा रखा। वे 'उनकी देखरेख करने, विरोध करने और सबसे आगे बढ़कर कांग्रेस के दक्षिणपंथ का समर्थन करने की रणनीति' में कामयाब रहे जिसने 'पहले उन पर लगाम लगाने और फिर झुका लेने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसके चलते 1947 में पूंजीपति वर्ग उन्हें स्वाधीन भारत के प्रधानमंत्री के रूप में स्वीकार करने तथा भारत के अर्थतंत्र को पूंजीवादी रास्ते पर विकसित करने के काम में उनका सहयोग करने को तैयार हो गया था' (बिपन चंद्र 1979: 198)।

27.6.3 युद्धोत्तर काल

भारतीय पूंजीपति वर्ग अपने दुलमुल रवैये के कारण राष्ट्रवादी राजनीति पर कभी निर्णायक प्रभाव नहीं डाल सका। बहरहाल 1940 दशक के पूर्वार्ध तक यह स्पष्ट हो गया कि औपनिवेशिक शासन खत्म हो जाएगा तो पूंजीपति वर्ग कांग्रेस द्वारा अपनाई गई नीति की ओर झुका और यह बात उनके महत्वपूर्ण नीति संबंधी दस्तावेज, 1944 के बांबे प्लान से स्पष्ट है। युद्ध के बाद जब पूंजीपतियों को महसूस हुआ कि कांग्रेस जल्दी ही सत्ता संभाल सकती है तो वे कांग्रेस का खुलकर समर्थन करने लगे और दीर्घकालीन आर्थिक योजना तथा कुछ उद्योगों, खासकर भारी उद्योगों पर राजकीय नियंत्रण के विचार तक का समर्थन करना शुरू कर दिया। हालांकि पूंजीपतियों ने 1938 में कांग्रेस द्वारा गठित नेशनल प्लानिंग कमेटी (एन पी सी) को न तो बहुत समर्थन दिया था न ही इसमें खास रुचि ली थी लेकिन बाद में उन्होंने 1944 में बांबे प्लान प्रस्तुत किया जिसमें राष्ट्रीय अर्थतंत्र के कुछ हिस्सों में राजकीय पहल और नियंत्रण का समर्थन किया गया था।

कांग्रेस का एक महत्वपूर्ण हिस्सा 1930 दशक के पूर्वार्ध से ही केंद्रीय रूप से योजनाबद्ध अर्थतंत्र के विचार की वकालत कर रहा था। सुभाष चंद्र बोस, जवाहरलाल नेहरू और अन्य लोगों ने इस मुद्दे पर अपनी मजबूत राय व्यक्त की थी। वे मानते थे कि भारत को गरीबी और बेरोजगारी से बाहर निकालने का एकमात्र रास्ता राज्य-प्रायोजित जबरिया उद्योगीकरण है और इसी से राष्ट्रीय सुरक्षा को भी मजबूती मिलेगी। 1930 दशक के दौरान पूँजीपति इस विचार को लेकर थोड़ा सतर्क थे। लेकिन 1940 दशक के दौरान उन्हें भी पूँजी वस्तुओं में और सुरक्षा से जुड़े उद्योगों में संपूर्ण राजकीय हस्तक्षेप के गुण साफ नजर आने लगे।

हालांकि प्रथम विश्व युद्ध के बाद और खासकर 1930 दशक के दौरान पूँजीपति वर्ग ने अपनी ताकत बढ़ा ली थी फिर भी वह इतना बलशाली नहीं हुआ था कि राज्य के सहयोग के बिना भारत में स्वतंत्र रूप से उद्योगीकरण कर पाता। इसके अलावा विदेशी प्रतियोगिता (जापान, जर्मनी, अमेरिका और ब्रिटेन से) का खतरा भी आसन्न था। इसलिए भारतीय पूँजीपतियों ने ऐसी योजना बनाई जिसमें साम्राज्यवादी नियंत्रण से मुक्त देश में स्वतंत्र पूँजीवादी विकास को शुरू करने और बनाए रखने तथा विदेशी पूँजी के प्रवाह के विरुद्ध राष्ट्रीय पूँजी की रक्षा के लिए राष्ट्रीय राज्य और योजना की भूमिका का समर्थन किया गया था। भारतीय पूँजीपतियों द्वारा 1944 में प्रस्तावित बांबे प्लान उद्योगीकरण, खासकर भारी और पूँजी वस्तुओं के उद्योगों तथा साथ ही अधिसंरचना के विकास को बढ़ावा देने में राष्ट्रीय राज्य की भूमिका को स्वीकार करता है। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने महसूस किया कि अर्थतंत्र के ऐसे बुनियादी क्षेत्रों में निवेश करने की ताकत उसमें नहीं है। विदेशी नियंत्रण से देश के अर्थतंत्र को मुक्त करने की इच्छा भी पूँजीपति वर्ग द्वारा राज्य की भूमिका के समर्थन के पीछे का एक और महत्वपूर्ण प्रेरक कारण था। (डी लाकवुड 2012; ए मुखर्जी 1976)।

27.7 कांग्रेस के प्रति पूँजीपतियों के रवैये का मूल्यांकन

कांग्रेस के प्रति उद्योगपतियों के रुख में एक पैटर्न प्रतीत होता है। शांतिपूर्ण वातावरण में वे खुलकर राष्ट्रीय महत्व के सवालों पर कांग्रेस का समर्थन करते थे जबकि जन आंदोलनों के समय वे बेहद हिचकते थे और सरकार के पक्ष में दिखना चाहते थे। हालांकि 1920 दशक के बाद से ही कांग्रेस को पूँजीपतियों का समर्थन तरह तरह से मिलता रहा था लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि पूँजीपतियों ने कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों को प्रभावित किया। जो भी थोड़ा बहुत प्रभाव था वह कांग्रेस के रूढ़िवादी हिस्से तक सीमित था। कांग्रेस की लोकप्रिय दिशा और विशाल संगठन के कारण वह सीधा पूँजीपति-समर्थक रवैया अपना नहीं सकती थी। हालांकि व्यवसायियों ने कांग्रेस फंड में चंदा दिया लेकिन वे इसकी नीतियों को निर्धारित नहीं करते थे। जो भी हो कांग्रेस के कुल फंड में उनका योगदान अपेक्षाकृत कम था। इसके अलावे कांग्रेस के प्रति पूँजीपतियों के दुलमुल रुख के चलते वे कांग्रेस की नीतियों को तय करने की वास्तविक हैसियत में नहीं थे। अगर कांग्रेस विकास के पूँजीवादी रास्ते पर आगे बढ़ी तो ऐसा उसकी अपनी विचारधारा का परिणाम था, पूँजीपतियों के किसी प्रत्यक्ष या परोक्ष दबाव की वजह से ऐसा नहीं हुआ।

औपनिवेशिक सरकार की प्रतिकूल आर्थिक नीतियों की प्रतिक्रिया में भारतीय उद्योगपतियों ने उपनिवेशवाद के प्रतिरोध के बतौर कांग्रेस की ओर देखा। बहरहाल आम तौर पर जनता में उथल-पुथल और खास तौर पर औद्योगिक असंतोष के भय ने ही उन्हें कांग्रेस के लिए पूर्ण समर्थन देने से रोका। कांग्रेस और राज के प्रति भारतीय पूँजीपतियों के रुख के मामले में उनमें आपस में ही भेद थे। उदाहरण के लिए 1920 दशक में बिड़ला ने कांग्रेस का समर्थन किया, ठाकुरदास ने इसका विरोध करते हुए एक नरमपंथी राजनीतिक वातावरण बनाने में लिबरलों का सक्रिय सहयोग मांगा।

हालांकि 1920 दशक के बाद से भारतीय पूंजीपतियों ने ज्यादातर राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन किया लेकिन उन्होंने संघर्ष के संवैधानिक रूपों और समस्याओं को सुलझाने के लिए समझौता वार्ताओं का पक्ष लिया। वे नरमपंथी संवैधानिकता और औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल नीतियां चाहते थे। कांग्रेस और औपनिवेशिक सरकार के बीच उन्होंने तालमेल बिटाना चाहा ताकि मूलगामी जन उभार का डर दूर हो सके। आम तौर पर वे दीर्घकालीन जन संघर्ष के विरोधी थे क्योंकि इससे क्रांतिकारी ताकतों को सामने आने का अवसर मिलता जो पूंजीवाद के लिए खतरा था। पूंजीपति ऐसे किसी भी लंबे समय तक चलने वाले आंदोलन के विरुद्ध थे जो सरकार से दुश्मनी मोल लेता और व्यवसायिक गतिविधियों को बाधित करता।

अपनी ओर से कांग्रेस ने एक सर्व-वर्गीय आंदोलन चलाने की कोशिश में पूंजीपतियों को साथ लेकर चलना चाहा। लेकिन बुनियादी मुद्दों पर समझौते के लिए वह तैयार नहीं थी। इसलिए हालांकि बड़े व्यवसायी गांधीवादी जन आंदोलनों को लेकर आशंकित रहते थे फिर भी पूंजीपतियों के प्रबल विरोध के बावजूद वह इन मुद्दों पर आगे बढ़ते रहे। हालांकि कई पूंजीपतियों को यकीन था कि गांधी उनकी ओर से काम करेंगे लेकिन उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए गांधी के अपने विचार और योजनाएं थीं। एक समय सविनय अवज्ञा आंदोलन का बांबे के उद्योगपतियों द्वारा विरोध होने पर कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने अगस्त 1930 में 'बहिष्कार हेतु बांबे की 24 मिलों की' सूची बनाई।

जमनालाल बजाज, वाडिलाल मेहता, सैमुएल आरों, और लाला शंकर लाल जैसे कुछ पूंजीपति व्यक्तिगत तौर पर राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हुए और जेल भी गए। जी डी बिड़ला, अंबालाल साराभाई और वालचंद हीराचंद जैसे कुछ पूंजीपतियों ने दिल खोलकर कांग्रेस फंड में चंदा दिया। जहां तक छोटे व्यापारियों का संबंध है उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन का सक्रिय समर्थन किया और उसमें शरीक रहे।

कांग्रेस के भीतर मजबूत वाम पक्ष के उदय ने पूंजीपति वर्ग को परिस्थिति का दुबारा मूल्यांकन करने के लिए मजबूर किया और उन्होंने उसी के अनुसार अपने रुख को समायोजित किया अन्यथा आंदोलन क्रांतिकारी दिशा में जा सकता था। पूंजीपतियों ने अलग से अपनी कोई पार्टी बनाने से परहेज किया क्योंकि इससे उलटा असर पड़ता। इसकी बजाए उन्होंने कांग्रेस के भीतर दक्षिणपंथ का मजबूती से समर्थन किया जो उनके मुताबिक संघर्ष को संवैधानिक दायरे में सीमित रखकर उनके हितों की रक्षा करता और कांग्रेस के भीतर तथा बाहर क्रांतिकारी तत्वों का विरोध करता। इस तरह भारतीय पूंजीपतियों और खासकर उनमें से दूरदर्शी लोगों ने एक साथ दो मोर्चों पर लड़ाई लड़ी। एक तरफ उन्होंने साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध किया जो उनकी वृद्धि को बाधित कर रही थीं और दूसरी ओर वे पूंजीवाद के विरोध में काम करने वाली मूलगामी और क्रांतिकारी ताकतों से भी आशंकित थे।

27.8 सारांश

उन्नीसवीं सदी के दौरान भारतीय पूंजीपतियों खासकर उद्योगपतियों की अवस्था काफी कमजोर थी और वे औपनिवेशिक शासन की दुश्मनी नहीं मोल ले सकते थे। ब्रिटेन से मशीनरी और तकनीकविदों का आयात बनाए रखने के लिए उन्होंने ऐसा किया। इसी वजह से राष्ट्रवादियों द्वारा भारतीय उद्योगों के पक्ष में मजबूत तर्क देने के बावजूद भारतीय उद्योगपतियों ने राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन नहीं किया। बीसवीं सदी में राष्ट्रवादी भावनाओं और गतिविधियों में भारी पैमाने पर तेजी आई और विशाल जन आंदोलन पैदा हुआ। इन

जन गोलबंदियों को प्रेरणा और दिशा देने वाला अगुवा संगठन कांग्रेस थी और गांधी इसके सबसे महत्वपूर्ण नेता थे। भारतीय पूँजीपति वर्ग का रिश्ता कांग्रेस और खासकर गांधी के साथ आम तौर पर सौहार्दपूर्ण था। इसके अलावे पूँजीपति वर्ग के कुछ नेता वही उपनिवेशवाद विरोधी भाषा बोलते थे जिसका प्रयोग कांग्रेस करती थी। लेकिन कांग्रेस को पूँजीपतियों का पूरा समर्थन नहीं मिला क्योंकि कांग्रेस ने अपना राजनीतिक और आर्थिक कार्यभार पूँजीपतियों के संपूर्ण समर्थन में नहीं निर्धारित किया। फिर भी राष्ट्रवादी आंदोलन के उभार ने पूँजीपति वर्ग को यह मौका दिया कि वह सरकार से सहूलियतें हासिल करने के लिए उस पर दबाव बनाए। 1940 दशक तक बड़े पूँजीपति आम तौर पर कांग्रेस को समर्थन देने के मामले में दुविधा के शिकार रहे। 1940 के दशक में जब यह तय हो गया कि कांग्रेस ही सत्ता संभालेगी तब उन्होंने खुलकर कांग्रेस और उसकी राजनीति का पक्ष लिया।

27.9 अभ्यास

- 1) भारतीय पूँजीपतियों ने शुरुआत में राष्ट्रवादी आंदोलन का समर्थन क्यों नहीं किया जबकि राष्ट्रवादी नेता मजबूती से स्वदेशी विचारधारा का प्रचार कर रहे थे?
- 2) 1930 से 1942 के बीच राष्ट्रीय आंदोलन के सिलसिले में भारतीय पूँजीपतियों के अलग अलग रुख पर विचार करें।
- 3) कांग्रेस के प्रति भारतीय पूँजीपतियों के रुख का संक्षिप्त मूल्यांकन करें।